हिंदी सिनेमा और सामाजिक सरोकार

April 28, 2015 संपादक 0 Comments

साहित्य की तरह सिनेमा भी अपनी प्राण ऊर्जा समाज से ग्रहण करता है। इसलिए सिनेमा की चर्चा होने पर उसके सामाजिक सरोकारों की ओर अनायास ही ध्यान जाता है। सिनेमा कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए, किसी सामाजिक उद्देश्य के लिए, मनोरंजन के लिए या फिर व्यवसाय के लिए हो सकता है। किंतु, प्रत्येक स्थिति में उसका संबंध समाज से अवश्य होता है या कह सकते हैं कि समाज सिनेमा का एक अनिवार्य तत्व है। फिल्म की कोई भी कथा चाहे वह कितनी ही काल्पनिक क्यों न प्रतीत होती हो, उसकी पृष्ठभूमि में एक वास्तविक समाज और मनुष्यों के वास्तविक रिश्ते होते हैं। इस वास्तविक समाज में होने वाली अध्किांश गतिविधियों, मानवीय इच्छाओं और आकांक्षाओं और लोगों के बीच निरंतर बनने-बिगड़ने वाले रिश्तों की हम उन चमत्कारों के माध्यम से नहीं समझते बल्कि अपने समय और समाज के गतिविज्ञान से ही देखते और समझते हैं।

मुख्यतः सिनेमा निम्नलिखित प्रकार का होता है। कला, सिनेमा, व्यावसायिक सिनेमा, विज्ञापन सिनेमा, मनोरंजक सिनेमा, धर्मिक सिनेमा, संवर्धानात्मक सिनेमा, चिकित्सा सिनेमा, वैज्ञानिक सिनेमा, प्रायोगिक सिनेमा, औद्योगिक सिनेमा, वृत्तचित्र, संदेश सिनेमा इत्यादि। इन सभी श्रेणियों की फिल्मों का अपना अलग-अलग उद्देश्य होता है। यह सच है कि सिनेमा कला के साथ उद्योग भी है किंतु वह मात्रा मनोरंजन या व्यवसाय के लिए नहीं है। वह हमारी लोक-संस्कृति और लोक-चेतना का सशक्त वाहक बन चुका है। इस लिहाज से समाज के प्रति फिल्म और फिल्मकार की कुछ जिम्मेदारियाँ भी हैं।

सिनेमा का निर्माण कई चरणों में पूरा होता है। उसका पहला चरण पटकथा लेखन है। पटकथा यदि अच्छी और सोद्देश्य होगी तो अधिक संभावना है कि फिल्म भी सार्थक ही होगी। मात्र मनोरंजन या व्यवसाय को लक्ष्य बनाकर लिखी गई पटकथा कभी भी सर्जनात्मक संतुष्टि नहीं दे सकती। एक पटकथा में रचनात्मक गुण का होना आवश्यक है। सिनेमा में पटकथा के अतिरिक्त सबकुछ एक यांत्रिक प्रक्रिया है। इसलिए पटकथा लेखक के लिए यांत्रिक शिल्प का ज्ञान होना अनिवार्य हो जाता है।

पटकथा का मूल आधर कहानी है। पटकथा लेखन दो सिद्धांतों पर आधारित है पहले से लिखी गई किसी साहित्यिक रचना को आधर बनाकर या मौलिक कथा लिखकर। किसी एक कला-विधि को दूसरी कला-विधि में ठीक उसी प्रकार व्यक्त करना असंभव है। यही कारण है कि उत्कृष्ट श्रेणी के साहित्यिक लेखकों की रचनाओं पर आधरित अधिसंख्य फिल्मों लोकप्रियता की कसौटी पर पीछे रह गई। क्योंकि, इन साहित्यिक रचनाओं की मूल संवेदना सिनेमा में उस तरह उभर कर नहीं आ सकी, जिस तरह मूल रचना में उपस्थित थी। प्रेमचंद, पफणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर, कमलेश्वर, राजेंद्र सिंह बेदी, मोहन राकेश, रमेश बक्षी जैसे लेखक सिनेमा की दुनिया से लौटकर साहित्यिक लेखन में ही जमे रहे। इन लोकप्रिय साहित्यकारों की उत्कृष्ट कृतियों को भी सिनेमा के पर्दे पर सपफलता नहीं मिली, जबकि लिखित साहित्य के रूप में ये खूब पढ़ी और सराही गई। यह हिंदी सिनेमा का दुर्भाग्य है। जब सिनेमा में अच्छे लेखकों की कृतियों को सम्मान मिलेगा, तब सिनेमा का स्वरूप और प्रभाव दोनों ही बदलकर अधिक सार्थक और समाजोपयोगी होगा। सिनेमा को अधिकाधिक धन अर्जित करने का माध्यम मानना, लेखक को या तो अपने वैचारिक स्तर से नीचे उतरने को बाध्य करता है। अथवा समझौता न करने की स्थिति में उसे सिनेमा का संसार छोड़ना पड़ता है। सिनेमा के चमक-दमक भरी दुनिया में उच्च स्तरीय साहित्यिक रचनात्मक के लिए जगह नहीं है या है भी तो इतनी कम है कि वह साहित्यकारों को सृजनात्मक संतुष्टि नहीं दे पाती।

आजकल हिंदी फिल्मों में पटकथा-लेखन को अनेक हिस्से में बाँट दिया जाता है। एक पटकथा को कई लेखकों द्वारा लिखवाया जाता है। दृश्य-परिकल्पना और पात्रा-रचना एक लेखक करता है, गीत किसी अन्य के द्वारा रचे जाते हैं। इसी प्रकार कहानी-लेखक अलग व्यक्ति होता है तथा संवाद-सर्जना किसी अन्य लेखक के द्वारा किया जाता है। सभी लेखकों की निजी लेखन-शैली होती है। अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने के कारण पटकथा की संरचना में रचनात्मक गठन का अभाव होता है। कमजोर पटकथा वाली फिल्म समाज को क्या और कितना दे पाएगी? भगवती चरण वर्मा लिखते हैं फिल्म की दुनिया में मुझे अक्सर लोगों से यह सुनने को मिला है कि फिल्म का काम, टीम का काम है यानी वह कई लोगों का सुयंक्त काम है। कम से कम मैं तो इस कथन से असहमत हूँ। कोई भी रचनात्मक काम दल का काम हो ही नहीं सकता। वह तो केवल एक व्यक्ति का काम होता है। पाश्चात्य देशों में वह आदमी जिस पर फिल्म बनाने की जिम्मेदारी होती है, निर्माता से भिन्न है। हमारे यहाँ निर्माता वह है, जो फिल्म में पैसा लगाता है, और मालिक होता है। इस व्यावसायिक निर्माता के पास फिल्म का ज्ञान होना आवश्यक नहीं, और वह होता भी नहीं है। जब कोई निर्माता-निर्देशक व्यावसायिक दृष्टि से सिनेमा का निर्माण करता है तो यहाँ वह अपने हित को सर्वोपरि रखता है, वह सिर्फ अर्थ-लाभ के लिए सिनेमा बनाता है। यह व्यावसायिक दृष्टि उसे बहुत सारे बाहरी दबाव और समझौता करने के लिए बाध्य करता है। किंतु, जब कोई निर्माता कला की अभिव्यक्ति के लिए या समाज के प्रति अपने दायित्व को समझते सिनेमा का निर्माण करता है तो ऐसी स्थिति में उसका चेतन उसे समाज के लिए उपयोगी और सर्जनात्मक फिल्म गढ़ने के लिए प्रेरित करता है। यह दूसरी स्थिति ही, जिम्मेदार और आदर्शवादी स्थिति है, जिससे लोक-कल्याण का कार्य सध् सकता है। वस्तुतः सिनेमा के कंधे पर सर्जनात्मक और सामाजिक दायित्व का सम्मिलित बोझ है।

एक सोद्देश्य कहानी और सार्थक पटकथा पर आधरित फिल्म ही सामाजिक सरोकार के संदर्भ में खरी ऊतर सकती है। हिंदी सिनेमा में गाँधीवादी मानवतावाद के साथ मार्क्सवादी समाजवाद के भी दर्शन होते हैं। आजादी के बाद अहिंसा, सद्भाव, शांति और न्याय पर आधरित अनेक लोकप्रिय फिल्मों का निर्माण हुआ। सिनेमा एक द्विपक्षीय क्रिया है। जहाँ एक ओर सिनेमा का प्रभाव समाज पर पड़ता है, वहीं दूसरी ओर उस युग में व्याप्त विचारधरा से सिनेमा भी अछूता नहीं रह पाता है। साठ-सत्तर के दशक की फिल्में दर्शकों को ऐतिहासिक राष्ट्रीय संघर्ष का स्मरण कराती है। राष्ट्रपिता द्वारा दिखाए गए अहिंसा और शांति के मार्ग का पालन करती हुई कई फिल्में बनीं और लोकप्रिय हुई। आवारा(1951),जागृति(1954), मदर इंडिया – (1957) जैसी फिल्मों को समझने के लिए गाँधीवादी वैचारिक परिप्रेक्ष्य में जाना पड़ेगा। 1960 में बनी फिल्म मुगले आजम में सलीम और अनारकली के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त अनेक विषमताओं को देखने-दिखाने का प्रयास किया गया है। इसमें एक तरपफ अकबर के माध्यम से धर्मिक सहिष्णुता और सद्भाव का चित्राण किया गया है तो वहीं दूसरी ओर राजसत्ता के अभिमान को भी दिखाया गया है। सत्ता के वारिस और एक मामूली कनीज के मध्य उपजे प्रेम को मान्यता देकर फिल्म में सामाजिक भेद-भाव और ऊँच-नीच के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया गया है।

देशप्रेम पर हकीकत, उपकार से आरंभ होकर बॉर्डर, कारगिल तक अनेक सशक्त फिल्में बन रही है। इन फिल्मों में राष्ट्रप्रेम को महिमामण्डित करते हुए, सैनिकों की वीरता तथा देश के लिए मर-मिटने के जज्बे को दिखाया गया है।

भारत ने आजादी के साथ ही विभाजन की त्रासदी को भी देखा। धर्मिक आधर पर दो भिन्न सम्प्रदाय दो राष्ट्र में विभक्त हो गए। परिणामतः दोनों साम्प्रदायिक ताकत विद्वेष से भरकर एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े हो गए। विभाजन के संदर्भ को कथानक का हिस्सा बनाकर अनेक फिल्में बनीं। जिनमें गरम हवा(1973) , छलिया(1960), धर्मपुत्र(1961),हे राम(1999) और गदर:एक प्रेमकथा उल्लेखनीय नाम हैं। विभाजन एक संवेदनशील पक्ष है। इस मुद्दे पर बनाई जा रही फिल्में, परिपक्व सोच और गंभीरता के अभाव में सामाजिक दिशा-निर्देश में असपफल हो रही है। विभाजन के आधर पर बनीं ज्यादातर फिल्में राष्ट्रप्रेम के आड़ में साम्प्रदायिक मानसिकता का पोषण कर रही है। यदि फिल्म अपनी शक्ति और संभावनाओं का उपयोग सार्थक तरीके से करे तो संभवतः विभाजन के इस घाव को भरने में कुछ मददगार साबित हो सकती है।

भारतवर्ष की सत्तर प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या आज भी गांवों में बसती है। आजादी के बाद ग्रामीण व्यवस्था में और ग्रामीण जीवन-शैली में वृहत् परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के बावजूद भी गाँवों के बुनियादी ढाँचे में कोई खास पफर्क दिखाई नहीं देता है। इसका कारण यह है कि भूमि संबंधी नियमों में कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ। इसलिए इस भूमि से जुड़े किसान तथा सामंतों के आपसी संबंध भी ज्यों-के-त्यों ही रह गए। आज भी भारतीय ग्रामीण किसान सामंती व्यवस्था के शोषण तथा उत्पीड़न का शिकार हो रहा है। अशिक्षा, रोजगार के साध्नों का अभाव और जातिगत-दलगत राजनीति ये विभिन्न कारण ग्रामीण विकास में बाधक है। ग्रामीण व्यवस्था में आज भी उस वर्ग का प्रभाव कायम है, जिनके हाथ में जमीन और धन है। इसके बल पर वे राजनीतिक सत्ता पर अपना वर्चस्व बनाए रखने में सपफल हो जाते हैं। आर्थिक-सामाजिक विषमता तथा व्यक्तिगत स्वार्थों के टकराव के कारण गाँवों में निरंतर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। यह संघर्ष और इस संघर्ष के फलस्वरूप होने वाला बदलाव फिल्मों के कथानक का विषय होता है। लगातार बदलता हुआ ग्रामीण यथार्थ फिल्मों के कथानक को भी प्रभावित कर रहा है।

भारतीय गाँव सम्पूर्ण भारतीय समाज के चिंतनधरा को व्यक्त करता है। मदर इंडिया की नायिका एक किसान स्त्री, सिर्फ गाँव की ही नहीं अपितु सभी भारतीय स्त्रियों की प्रतिनिधि बनकर सामने आती है। इसी प्रकार फिल्म लगान में किसानों के शोषण के औपनिवेशिक परिदृश्य को दिखाया गया है। इस फिल्म की कथा काल्पनिक है लेकिन, कथा के माध्यम से दिखाया गया अंग्रेजी हुकूमत तथा उसके शोषण और उत्पीड़न से आक्रांत भारतीय समाज, पूरी तरह सच है। इस शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध किसानों के संघर्ष को फिल्म में अत्यंत रोचक ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है। उद्योगीकरण के तमाम प्रयासों के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था की नींव ग्रामीण अर्थव्यवस्था ही है। लेकिन, सिनेमा से ये गाँव लगभग गायब होते जा रहे हैं। सावकारी पाश(1925) से आरंभ होकर, धरती के लाल(1946), मदर इंडिया(1957), शोले (1975) तथा उसके भी कुछ वर्षों तक गाँव फिल्मों के केंद्रीय विषय बने रहे। किंतु, उसके बाद लगभग बीस वर्षों तक गाँव फिल्मों से भुला दिए गए। एक लंबे अंतराल के बाद, फिल्म लगान ;2001 में गाँव पुनः सजीव हो उठा।

वर्तमान मुख्यधरा की फिल्मों में गाँवों को अब सिपर्फ शहरों तथा महानगरों से ही नहीं जोड़ा जा रहा है बल्कि, विदेशों से जोड़कर दिखाया जा रहा है। ग्रामीण परिवेश के नायक-नायिका विदेशों में कभी पढ़ने के लिए जाते हैं । तो कभी कारोबार के सिलसिले में विदेश-भ्रमण करते हैं या फिर सपिरवार वहीं बस गए हैं। कभी-कभी नायक-नायिका नाचते-गाते हुए अपनी कल्पना में विदेश पहुँच जाते हैं। इस तरह के फिल्मों की एक लम्बी सूची है। दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे(1996), कुछ-कुछ होता है(1998), दिल तो पागल है(1997), ताल(1999), हम दिल दे चुके सनम(1999) आदि फिल्में इसका उदाहरण हैं। इस तरह की फिल्में भूमंडलीकरण का परिणाम है। आज फिल्म-निर्माता तथा निर्देशकों की दृष्टि विश्व बाजार पर है। वे फिल्मों से अधिकाधिक मुनापफा कमाने के लिए ऐसे कथासूत्रा तथा दृश्यों की परिकल्पना करते हैं जिससे कि प्रवासी भारतीयों को भी फिल्म देखने के लिए लुभाया जा सके।

स्त्री का उत्पीड़न और शोषण समाज का एक शर्मनाक सच है। सभी धर्म और जाति की स्त्रियाँ न्यूनाधिक अंश में उत्पीड़न की शिकार है। हिंदी के व्यावसायिक सिनेमा में स्त्री की परिकल्पना आदर्श-नारी के रूप में की जाती रही है, जहाँ वह अपने अस्तित्व को परिवार और बच्चों के लिए मिटा देती है। यदि किसी स्त्री ने इस परंपरा को तोड़ने की कोशिश की तो उसे खलनायिका का दर्जा स्वीकार करना पड़ा। स्त्री के इस पारम्परिक आदर्शवादी छवि को तोड़ते हुए, उसके स्वतंत्राता और सबलीकरण के मुद्दों पर भी फिल्में बनीं और सराही गई है। पतिव्रत, मातृत्व, त्याग, करूणा, सेवा, जैसे अपने स्त्रियोचित-सुलभ गुणों से बंधी स्त्री अब पुरूष के वर्चस्व को चुनौती दे रही है। अपनी आजादी के लिए संघर्षरत स्त्रियाँ अन्याय के विरुद्ध मुखर हो रही है। पुरुषों के वर्चस्व को नकार- कर बराबरी का अधिकार माँगती हुई स्त्रियाँ फिल्मों में केंद्रिय भूमिका में स्थान बना रही है। भले ही यह प्रक्रिया धीमी गति से हो किंतु, फिल्मों में स्त्रियाँ लगातार पुराने मूल्यों से लड़ती हुई अपनी नई छवि को स्थापित करने में कामयाब हो रही है।

स्त्री जीवन को केंद्र में रखकर बनी कुछ ऐसी यादगार फिल्मों जो हमेशा दर्शकों द्वारा देखी और सराही गई हैं, उनमें फिल्म दुनिया न माने(1937) को नारी स्वतंत्राता की आवाज बुलंद करने वाली पहली फिल्म माना गया। यह फिल्म वी. शान्ताराम द्वारा निर्मित की गई थी। यह फिल्म एक पढ़ी-लिखी

अनाथ लड़की ;निर्मलाद्ध की कहानी है। निर्मला को उसके रिश्तेदार पैसा लेकर धोखे से एक बूढ़े व्यक्ति से ब्याह देते हैं। निर्मला इस विवाह को स्वीकार नहीं करती तथा विद्रोह कर देती है। अंत में बूढ़ा यह मान लेता है कि वह निर्मला के पति होने के योग्य नहीं है। लेकिन, बूढ़े की मृत्यु के उपरांत समाज निर्मला को यह अहसास करा देता है कि विध्वा होकर जीना कठिन है, अपेक्षा इसके कि बूढ़े की पत्नी होकर रहना। फिल्म लज्जा(2001) एक अन्य चर्चित नाम है। लज्जा की जानकी अपने पति राम की सभी बातें स्वीकार नहीं करती। वह अग्निपरीक्षा देने से पूर्व राम के पवित्रा होने का प्रमाण माँगती है। इस फिल्म की सभी स्त्रियाँ पुरूष उत्पीड़न का शिकार है। जिस समाज में नारी देवी की भाँति पूजनीया है, वास्तव में वह समाज नारी के प्रति कितना हिंसक और असहिष्णु है-इस विषय को इस फिल्म में उठाया गया है। विद्या बालन द्वारा अभिनीत 'द डर्टी पिक्चर' जो कि दक्षिण भारत की अभिनेत्री सिल्क स्मिता के वास्तविक जीवन पर बनाई गई थी, बहुत चर्चित रही। यह फिल्म एक साधरण महिला के असाधरण जीवन-यात्रा पर शोध् करती है। फिल्म में एक एकस्ट्रा कलाकार के रूप में अपनी भूमिका शुरू करने वाली अभिनेत्री किस प्रकार दक्षिण-भारत के पुरुष-प्रधन फिल्म-जगत में, अस्सी के दशक की सर्वोच्च अभिनेत्री बन जाती है। इसमें स्त्री के महत्वाकांक्षा और उसके लगन को दिखाया गया है। जुबैदा एक अभागी अभिनेत्री के जीवन की संघर्षपूर्ण कहानी है। इस फिल्म की नायिका जुबैदा अपना जीवन अपनी इच्छानुसार जीना चाहती है। जुबैदा एक अमीर मुस्लिम परिवार में जन्म लेती है। लेकिन, उसे कभी भी अपने ढंग से जीने की आजादी नहीं मिल पाती पहले पिता, पिफर पहले पति उकसे बाद दूसरे पति के अनुसार जीने के लिए वह बाध्य होती है। परिवार और समाज की मर्यादा से उसे अनिच्छापूर्वक बँध्ना पड़ता है। इस घुटन से उसे मुक्ति मिलती है, तो मृत्यु के रूप में। यह फिल्म अभिजात समाज में स्त्री की भयावह स्थिति को दर्शाता है। दीपा मेहता को फिल्म वाटर में भारतीय विधवाओं के दर्द को दिखाया गया है। मदर इंडिया नारी जागरण की सर्वश्रेष्ठ फिल्म कही जा सकती है। इसके दर्शकों और प्रशंसकों का लगातार बढ़ते जाना इस पिफलम के लोकप्रियता का प्रमाण है। मदर इंडिया में एक किसान महिला के साहस और संघर्ष को भारतीय परिप्रेक्ष्य में उकेरा गया है। फिल्म की नायिका राध ;नरगिसद्ध अपने परिवार तथा गाँव को बचाने के लिए सभी कठिन चुनौतियों का सामना करती है। स्त्री जीवन को अभिव्यक्त करने वाली कुछ अन्य महत्वपूर्ण फिल्में है दामिनी(1993), बेंडिट क्वीन(1994), फायर(1998), मृत्यु दंड (1998), गॉड मदर(1999), अस्तित्व(2000), चाँदनी बार(2001),फैशन, कहानी इत्यादि।

यथार्थवादी सिनेमा में दलित तथा जातिवाद से जुड़े मुद्दों को भी लगातार उठाया गया है। जातिप्रथा भारतीय समाज का कलंक है। अछूत कन्या से लेकर लगान तक दलित समाज फिल्मों में किसी न किसी रूप में निरंतर उपस्थित रहा है। गाँधी के अछूतो से प्रभावित अछूत कन्या(1936) जाति प्रथा पर बनने वाली एक यादगार फिल्म है। इसी तरह अंकुर(1973), मृगया(1976), आक्रोश(1980), सद्गति(1981)पार (1984), दामुल(1984), दीक्षा(1991) और बेंडिट क्वीन(1995) सरीखी फिल्मों में दलित समस्याओं से जुड़े यथार्थ को चित्रित किया गया है। इन फिल्मों में दलितों से जुड़े प्रश्नों को व्यापक सामाजिक आयाम में समझने का प्रयास हुआ है। दलित शोषण के विभिन्न कारणों में आर्थिक विपन्नता, धर्मिक रूढ़िवाद और अंधविश्वास तथा राजनीतिक लाभबंदी जैसे घटक निकल कर आते हैं। फिल्म 'मंथन' में सहकारिता का आंदोलन दलितों में राजनीतिक जागरूकता लाता है और दलितों तथा गैर-दलित गरीबों में शोषण तथा उत्पीड़न के विरुद्धएकजुट होने के लिए प्रेरित करता है। 'मगया' में उत्पीड़न के विरुद्धआदिवासी समाज के संघर्ष की कथा को दिखाया गया है। बेंडिट क्वीन, फूलन देवी के जीवन पर बनी दलित स्त्री के संघर्ष की गाथा है। इसमें एक दलित स्त्री के आत्मसम्मान की लड़ाई को आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर, यथार्थवादी दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया गया है। यह एक बहुआयामी फिल्म है, जो कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ लोकप्रियता में अपने समय की सभी फिल्मों से आगे निकल गई।

हिंदी सिनेमा अपने आरम्भिक काल से यही राजनीतिक मुद्दों को कभी परोक्ष रूप में या कभी प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करता रहा है। आठवें दशक में शुरू हुए समानांतर सिनेमा आंदोलन के साथ ही वास्तविक राजनीतिक फिल्मों का आरंभ माना गया। सातवें दशक से ही फिल्मों में बढ़ते राजनीतिक अपराध् को दिखाए जाने की परंपरा निकल पड़ी थी। किंतु, सावतें और आठवें दशक के राजनीतिक सिनेमा में बुनियादी अंतर था। 1970 से चलकर 1980 तक आते-आते राजनीति फिल्मों की पृष्ठभूमि से उभरकर उसका केंद्रीय विषय-वस्तु बन गया। अधिक तर फिल्मों में राजनीतिक संगठनों तथा राजनेताओं को भ्रष्टाचार में पूरी तरह डूबा हुआ पेश किया गया है। इस राजनीतिक उत्पीड़न का मुकाबला करते हुए पिफल्मी नायक भी प्रायः हिंसा का सहारा लेता है। जंजीर, शोले, सत्या, मेरी आवाज सुनो, अंध कानून में उत्पीड़न का जवाब हिंसा के द्वारा दिया गया है। वैयक्तिक हिंसा उत्पीड़न का समाधन कदापि नहीं हो सकता। हिंसा, समाधान कदापि नहीं हो सकता। हिंसा, समाधन न मिलने पर उत्पन्न आक्रोश और हताश को दिखाता है। अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है, गरम हवा, आघात आदि फिल्मों में वैयक्तिक प्रतिरोध की जगह जन संगठनात्मक प्रतिरोध् का स्वर बुलंद हुआ है। फ्जब किसी फिल्म में नेता, मंत्री सरकारी अधिकारी, उद्योगपति, जज आदि को भ्रष्ट दिखाया जाता है तो वे मौजूदा तंत्रा के कमजोर पड़ने को ही तरह का विकल्प पेश कर रहे होते हैं, इस समझने की जरूरत है।

मौजूदा दौर की फिल्मों में इस राजनीतिक भ्रष्टाचार से निकलने के लिए कुछ सार्थक विकल्प सुझाए गए हैं। राँझणा, सत्याग्रह, आदि फिल्मों में एक नवीन राजनीतिक विकल्प का उज्जवल भविष्य दिखाया गया है। 'गोरी तेरे प्यार में' ग्रामीण जनता के मध्य जाकर उनके लिए कुछ सार्थक कार्य करने की बात कही गई है। इस तरह इन फिल्मों में बेहतर भविष्य की आशा को जगाया गया है।

आतंकवाद भी फिल्मों का एक गंभीर मुद्दा बन गया हैं। पंजाब में आतंकवादी गतिविधियों के सक्रिय होने तथा बाद में कश्मीर से निकल कर पूरे देश में पफैलते हुए आतंकी, सरगर्मियों के चलते फिल्मों में भी इस विषय को जगह मिली। माचिस, रोजा तथा खाकी जैसी फिल्मों में आतंकवाद तथा सेना-पुलिस की भूमिका को प्रस्तुत किया गया। नाना पाटेकर की 'प्रहार' बहुचर्चित फिल्म है, इसमें देश के अंदरूनी दुश्मनों से निपटने का कारगर तरीका सुझाया गया है। इस तरह के विषयों का फिल्मों के केंद्र में आना वैचारिक स्थिरता को झकझोरता है और इसके उत्तरदायी कारकों को खोजने और उनके निवारण के लिए प्रत्येक संभव स्तर पर प्रयत्न का आग्रह करता है।

फिल्मों में यह दिखाया जाता है कि रोजगार की तलाश में गाँव से शहर में आया हुआ नौजवान एक खतरनाक अपराधी बन जाता है, देशभक्ति की आड़ में युवक भटक कर आतंकवाद का रास्ता पकड़ लेता है, मनासिक संत्रास की स्थिति से गुजर रहा युवा नशे की लत में डूब जाता है, पैसे की चाह और महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए कोई लड़की गुमराह हो रही है। लेकिन, उन हालातों से बचने का मार्ग प्रायः नहीं सुझाते हैं। फ्यह सही है कि फिल्में हमारे समय के पूरे यथार्थ को पेश नहीं करती। वे यह नहीं बताती कि यदि हमारा समाज ज्यादा हिंसक और असंवेदनशील बन रहा है तो इसका कारण उस राजनीतिक और सामाजिक संरचना में है जिसे शासक वर्ग ने निर्मित किया है। सिनेमा पर आज भी उसी वर्ग का विचार थोपा जा रहा है जिनका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वर्चस्व है। वर्तमान काल में सिनेमा पर भूमंडलीकरण के दबाव से उत्पन्न आर्थिक महत्त्वाकांक्षा हावी हो चुका है। इसके साथ ही राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक मूल्यों की अनदेखी तथा पश्चिमी शैली का अंधानुकरण भी सिनेमा को उसके सामाजिक सरोकारों से विमुख कर रहा है। पिछले दशक में हिंदी सिनेमा का दृश्य बदला है। वैचारिक स्तर पर वे अधिक प्रौढ़ हुई है। अनेक सामाजिक प्रश्नों को फिल्मों में सार्थक ढंग से उठाया गया है। इन समस्याओं का समाधन पेश करना भी सिनेमा का कर्तव्य होना चाहिए। सिनेमा समाज से निरपेक्ष नहीं रह सकता है। उसमें समाज का प्रतिबिंब होना स्वाभाविक है। अपने अभियान में आगे बढ़ता हुआ सिनेमा बेहतर मनुष्य और बेहतर दुनिया के निर्माण में सहायक हो, यही उसका एकमात्रा अभिष्ट हो।

संदर्भ

1. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्रा, जवरीमल्ल पारख, प्रथम संस्करण 2006, पृ. सं.34
2. वर्मा, भगवतीचरण, 'वासवदत्ता का चित्रालेख', पृ. 29 ;भारतीय सिने सिद्धाँत, अनुपम ओझा, में उदृत पृ. सं.157
3. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्रा, जवरीमल्ल पारख, प्रथम संस्करण 2006, पृ. सं.42
4. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र , जवरीमल्ल पारख, प्रथम संस्करण, पृ. सं.95

अर्चना उपाध्याय

एसोसिएट प्रोफेसर ,श्याम लाल कॉलेज ,दि.वि.वि.

Previous Post
हिंदी साहित्यकार केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में प्रकृति

Next Post
वृत्तांत परंपरा और कमलेश्वर

Leave a Reply

Your email address will not be published / Required fields are marked *